Journal for Re Attach Therapy and Developmental Diversities
eISSN: 2589-7799
2023 June; 6 (6s): 1070-1073

व्यक्ति की अभिव्यक्ति

– प्रो. मीना शर्मा

व्यक्ति का व्यक्त रूप अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति ही मनुष्य को मनुष्य से व्यक्ति बनाता है। अभिव्यक्ति व्यति के अस्तित्व का प्रमाण है, चिंतन का प्रमाण है कि व्यक्ति सोचता–समझता है, विचार रखता है। किसी चीज पर अपनी राय रखने से व्यक्ति की पहचान बनती है, व्यक्तित्व निर्मित होता है, व्यक्तित्व निर्मित होता है। तब यहां सहज ही प्रश्न उठता है कि व्यक्ति कौन है? क्या पुरुष व्यक्ति है? क्या स्त्री व्यक्ति है? क्या दोनों व्यक्ति हैं? या सिर्फ पुरुष व्यक्ति है? या सिर्फ स्त्री व्यक्ति है? या सिर्फ और सिर्फ पुरुष व्यक्ति है, स्त्री व्यक्ति नहीं है। सारी बीमारी की जड़ स्त्री होने और पुरुष होने के अंतर में है। इसी स्त्री और पुरुष के अंतर से सारे आधुनिक विमर्श अस्तित्वादी विमर्श, स्त्री विमर्श, दलित विमर्श इत्यादि पैदा हाते` हैं।

व्यक्ति होने की पहचान व्यक्ति का 'मैं' है। पुरुष होने, स्त्री होने, दलित होने की प्रक्रिया में मौलिक अंतर है। पुरुष को तो पूर्वानुमानित रूप से, परंपरागत रूप से व्यक्ति मान लिया जाता है किन्तु स्त्री और दलित को यह स्वीकृति नहीं मिलती है। पुरुष सदियों से अपनी बात कहता आया है। पुरुष कर्ता है, पुरुष निर्माता है, पुरुष इतिहास विधाता है, पुरुष शास्त्र निर्माता है, पुरुष दार्शनिक है, पुरुष पुरोहित है, पुरुष सत्ता है, पुरुष केन्द्र है, पुरुष वर्चस्व है, पुरुष शासक है, पुरुष नायक है, पुरुष परम है, पुरुष सब कुछ है, पुरुष सर्वेसर्वा है, पुरुष के पास सर्वस्व है, पुरुष विधायक है, पुरुष व्यक्ति है, पुरुष राजनीति, धर्म, शासन, समाज, दर्शन, अर्थशास्त्र, शास्त्र, साहित्य, भाषा, कला आदि में स्वयं को व्यक्त करता है। इस कारण पुरुष स्वयं को व्यक्त करता है। इस कारण पुरुष राजनीति, धर्म, शासन, समाज, साहित्य आदि में प्रतिनिधित्व करता है। इन सब पर पुरुष का ही शासन और वर्चस्व है। पुरुष का राजनीतिक वर्चस्व, शासनात्मक वर्चस्व, साहित्यक वर्चस्व, भाषायी वर्चस्व, धार्मिक वर्चस्व, सामाजिक वर्चस्व, सांस्कृतिक वर्चस्व पुरुष के आधिपत्य और एकाधिकार की घोषणा करता है। स्त्री पर भी पुरुष का वर्चस्व है। स्त्रियों का साहित्यक प्रतिनिधित्व, राजनीतिक प्रतिनिधित्व आदि प्रतिनिधित्व पुरुष वर्ग ही करना चाहता है, करता है और करता आया है, भविष्य तो भविष्य ही बतायेगा। यह भविष्य स्त्रियों का भविष्य और स्त्री अस्मिता की निर्मिति के भविष्य पर निर्भर करता है। पूर्वानुमानित रूप से, नैसर्गिक रूप से पुरुष को व्यक्ति मानने की सामाजिक स्थिति है पर स्त्री को यह स्वीकृति और सुविधा उपलब्ध नहीं है। उसकी सामाजिक स्थिति भिन्न है। स्त्री अव्यक्त है, वह खामोश है, क्योंकि उसका बोलना मना है, उसका सोचना मना है, उसका प्रश्न उठाना मना है, स्त्री की अभिव्यक्ति की मनाही है। कहते हैं कि किसी को मारना हो तो उसकी सोच खत्म कर दो। वह 'व्यक्ति' स्वयं मर जाएगा। व्यक्ति की अभिव्यक्ति न होने के कारण स्त्री की सोच, स्त्री का

'मैं' भी मार डाला गया। इस 'मैं' के दमन कर दिया गया। महान दार्शनिक देकार्त ने जब एलान किया था कि 'मैं सोचता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है।' तो देकार्त के श्मैंश में स्वयं देकार्त के साथ समस्त पुरुष समाज का 'मैं' शामिल हो जाता है। उस 'मैं' का दायरा बढ़ जाता है। किन्तु क्या देकार्त के इस वृहदाकार दायरे के 'मैं' में स्त्री शामिल है? क्या इस 'मैं' के दायरे में स्त्री 'फिट' बैठती है, देकार्द के 'मैं' में स्त्री का 'मैं' क्या है? नहीं है, तो क्यों नहीं है? आखिर स्त्री उस 'मैं' में क्यों नहीं शामिल होनी चाहिए थी? जब हम आदमी या इंसान को व्यक्ति कहते हैं तो सामान्यतः इससे स्त्री–पुरुष दोनों ही निहित हाते` हैं (किन्तु वास्तविकता यह है क्या?) अतः देकार्त (पुरुष) के अनुसार स्त्री भी कह सकती है कि मैं सोचती हूँ इसलिए मैं हूँ, 'मेरा अस्तित्व है।' 'मेरी अस्मिता है।' मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी है। चिंतन करना व्यक्ति के युक्तिपरक होने का प्रमाण है, उसके विवेकवान होने का सबूत है। अपने इसी विवेक के सामर्थ्य के सहारे व्यक्ति पशु से भिन्न होता है। 'विवेक', 'बुद्धि', 'बुद्धिमता' एक सार्वभौम गुण के रूप में उभरती है जिसके कारण पशु और इंसान की भिन्नता को चिन्हित किया जाता है। लेकिन स्त्री ने जब इस गुण का इस्तेमाल करते हुए अपने आपसे, अपने समाज, अपने परिवेश से अपने 'मैं' के सत्यापन हेतु पुरुष की सत्ता से पूछा कि 'क्या मैं इंसान हूँ?' 'क्या मेरी भी कोई मानवीय गरिमा है?' तो स्त्री को जो जवाब मिला वह कुछ और ही था। वह समझ गयी कि इंसान की श्रेणी में तो पुरुष हैं सिर्फ पुरुष का 'मैं' है। स्त्री तो 'अन्य' है, स्त्री तो एक संपूरक मात्र है। यही सवाल जब दलित ने जब पूछा कि 'क्या' मैं हूँ? क्या मेरी भी कोई मानवीय गरिमा है? क्या मैं इंसान हूँ?' तो उसे भी स्त्रीवाला जवाब ही मिला कि वह एक सेवक है, जिसका काम उस (सवर्ण की) 'मैं' की सेवा करना है। पुरुष के 'मैं' में स्त्री के 'मैं' के न शामिल होने की मानसिकता यही है कि जब हम इंसान बोलते हैं तो उसका आशय सिर्फ और सिर्फ पुरुष है। 'मैं' का अधिकारी भी सिर्फ पुरुष है। क्योंकि पुरुष को पूर्वानुमानित रूप से व्यक्ति मान लिया जाता है, फिर इस व्यक्ति के पास 'विवेक', 'बुद्धि', 'बुद्धिमता', 'चिंतन' है, यह भी पूर्वानुमानित रूप से मान लिया जाता है। इसी 'विवेक', 'बुद्ध' के सहारे वह पशु या जानवर से भिन्न है। पुरुष ही ज्ञान का अधिकारी है, सत्ता का अधिकारी है, साहित्य का अधिकारी है, समाज का अधिकारी है, शासन का अधिकारी है, राजनीति का अधिकारी है, धर्म का अधिकारी है, स्त्री का अधिकारी है, अभिव्यक्ति का अधिकारी है, 'मैं' का अधिकारी है, अस्मिता का अधिकारी है, धन–दौलत, जमीन–जायदाद आदि सब कुछ का अधिकारी है। जन्मजात अधिकारी है। परंपरा प्रदत्त यह समस्त अधिकार और सुविधा पुरुष को धर्म और शास्त्र ने दिया है जिसका वह अधिकारी एवं रचयिता था । पुरुष को पूर्वानुमानित रूप से सब कुछ मान लिया गया है। पुरुष को अपनी तरफ से कुछ भी साबित नहीं करना है, इसलिए पुरुष 'कर्ता' है, पुरुष नायक है पुरुष शासक है, पुरुष विधायक है, पुरुष निर्माता है, पुरुष इतिहासकार है, पुरुष साहित्यकार है, सोचना–बोलना–लिखना पुरुष का काम है, विचार और चिंतन का विभाग और दिमाग पुरुष के पास है इसलिए पुरुष का 'मैं' है, सिर्फ पुरुष की अस्मिता है। पुरुष कह सकता है मैं सोचता हूँ, इसलिए मरे ा अस्तित्व है, स्त्री नहीं । स्त्री की कोई अस्मिता नहीं हैं समाज ने स्त्री के 'मैं' को ही मार डाला। स्त्री को 'विचार शून्य', विवेकशून्य प्राणी होने का विचार गढ़कर पूर्वानुमानित रूप से मानकर उसे अस्मिताशून्य, 'मैशून्य' 'अन्य' की श्रेणी, 'वस्तु' की

श्रेणी, 'ढ़ोल गंवार शूद्र पशु' की श्रेणी में डाल दिया। समस्या की जड़ स्त्री–पुरुष संबंधी यही पूर्वानुमानित धारणा है। इसी यादृच्छिक धारणा ने स्त्री और पुरुष के सामाजिक, बौद्धिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक दर्जे का निर्धारण किया। जिसमें पुरुष की सर्वोच्चता और स्त्रियों की निम्नता की घोषणा इसी पूर्वानुमानित धारणा के आधार पर की गई किसी बौद्धिक कसौटी पर स्त्री और पुरुष को कसकर नहीं की गई। पूर्वानुमानित धारणाओं के आधार पर पुरुष को विवेकवान, विचारवान, बौद्धिक प्राणी मान लेना और स्त्री को चिंतनशून्य विवेकशून्य विचार शून्य अबौद्धिक प्राणी मानकर पुरुष को श्रेष्ठ तथा स्त्री को निकृष्ट घोषित कर देना, यह कहां का विवेक है! इसी भ्रान्त धारणाओं, पूर्वानुमानित धारणाओं के आधार पर कालान्तर में जाकर स्त्री विरोधी पितृसतात्मक व्यवस्था की नींव रखी गयी, जिसमें पुरुष को सर्वोच्च आसन पर बैठा दिया गया, स्त्री विरोधी परंपरा, स्त्री विरोधी मानसिकता, स्त्री विरोधी धर्म–शास्त्रों, स्त्री विरोधी सत्ता स्त्री विरोधी व्यवस्था, स्त्री विरोधी नैतिकता, स्त्री विरोधी साहित्यिक व्यवस्था कायम किया गया कि जिसकी मार और असर आज भी स्त्री जीवन के सभी क्षेत्रों पर देखी जाती है, देखी गयी है। सत्ता, धर्म, राजनीति, अर्थ, शासन, समाज, साहित्य आदि सबके केन्द्र में पुरुष का वर्चस्व और हाशिये पर स्त्री की अधीनस्थ स्थिति, अधीनस्थ स्थिति, गौण स्थिति मानकर स्त्री का दोयम दर्जा कायम किया। स्त्री दमन, उपेक्षा, उदासीनता, गौणता, न्यूनता की शिकार हुई। स्त्री अस्मिता की धज्जियां उड़ाई गई। कथा–साहित्य में स्त्री–अस्मिता की निर्मिति की खोज, उसके मूल्यांकन,

सके पूर्वमूल्यांकन की रचनात्मक प्रतिज्ञा के पीछे इसी भ्रांतिपूर्ण धारणाओं का निराकरण करना है जिसके कारण स्त्री लेखन और स्त्री लेखकों को स्त्री–अस्मिता के वंचित रखा गया। बंग–महिला से लेकर स्वतंत्रतापूर्व तक का स्त्रीलेखन और स्त्री लेखक पुरुष आलोचकों के इसी पूर्वानुमानित धारणाओं की शिकार हुई। जिस दृष्टि के अन्तर्गत समस्त स्त्री लेखन को हीन, कमतर, मानते हुए उसकी साहित्यिक उपेक्षा की गई, उस साहित्य को श्नोटिसश नहीं किया गया। आलोचना जगत की घनघोर उपेक्षा एवं समुचित मूल्यांकन के अभाव में स्त्री अस्मिता का गला घोंटा गया। बीसवीं शताब्दी के आलोचक के समान आज के भी ज्यादातर लेखक आलोचक यह मानकर चलते हैं कि स्वतंत्रतापूर्व जो महिला–लेखन था, वह घटिया, ज्यादातर कूड़ा ही था, इस कारण उसकी चर्चा निरर्थक है। आलोचना जगत का यह निष्कर्ष मानकर चलने पर निकलता है, यह निष्कर्ष उन रचनाओं को पढ़कर नहीं निकलता है, यह विस्मय की बात है। क्या आलोचना–विवेक पूर्वानुमानित धारणाओं से निर्मित होता है क्या? क्या आलोचना–विवेक रचना–केन्द्रित होता है अथवा लिंग–केन्द्रित ? क्या यही साहित्य का लोकतंत्र है? क्या यही साहित्य की समावेशी दृष्टि है? क्या यह स्त्री विरोधी आलोचना नहीं है? जो बिना पढ़े, बिना 'नोटिस' किए स्त्री लेखकों के अवदान पर अपना फतवा जारी कर दे। क्यों मुख्यधारा के साहित्य की बात आती है तो प्रेमचन्द, प्रसाद, अज्ञेय, जैनेन्द्र, यशपाल आदि के इर्द–गिर्द आलोचना घूमती

है और स्त्री लेखन और स्त्री लेखक को हाशिये पर डाल दिया जाता है? स्त्री लेखन के प्रति उपेक्षा का भाव आलोचना जगत में पुरुषों का यह पितृसत्तात्मक संस्कार नहीं है

क्या? चाहे साहित्य की दुनिया हो, चाहे समाज की दुनिया हो, चाहे राजनीति की दुनिया हो, चाहे आलोचना की दुनिया हो स्त्री हर जगह उपनिवेश रही है। स्त्री की आवाज को अनसुना कर स्त्री साहित्य के प्रति हेय दृष्टि रखकर पुरुष वर्ग (लेखक वर्ग) स्त्रियों का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकता है? जबकि 20वीं सदी के प्रथम दशक से ही स्त्री कथाकार कथासंसार में सक्रिय रूप से उपस्थित रही है। स्त्री की कहानी, स्त्री की जुबानी स्त्री का सही 'फीडबैक' देगा अथवा स्त्री अभिव्यक्ति का गला घोंटकर स्त्री अस्मिता की श्लौ को बुझाकर पुरुष दृष्टि से देखा गया स्त्री जीवन का सत्य स्त्री की जुबान, स्त्री की भाषा, स्त्री की संवेदना, स्त्री के सरोकार, स्त्री के साहित्य को छीनकर कोई साहित्य महान एवं संवेदनशील नहीं हो सकता। क्योंकि समाज को देखने का स्त्री के पास विशिष्ट दृष्टिकोण है। स्त्री समाज में जो जीवन जीती है, देखती है, भोगती है, उसे पुरुष की आंखों एवं कलम से नहीं देखा जा सकता। स्त्री और पुरुष की सामाजिक स्थिति की भिन्नता लेखन में भी भिन्नता को उभारती है। उधार की अभिव्यक्ति में प्रामाणिकता और साहित्यिक न्याय कैसे आयेगा। किसी चीज पर स्त्री की राय स्त्री के विचार, स्त्री का पक्ष सुनना जरूरी है स्त्री की इसी पक्षधरता से स्त्री की पहचान बनती है, व्यक्तित्व निर्मित होता है, स्त्री की अस्मिता व्यक्ति रूप में निर्मित होती है इसलिए स्त्री को नकारने का अर्थ है– स्त्री के विचार और अस्तित्व को नकारना । कथा साहित्य में स्त्री अस्मिता की निर्मिति का प्रश्न स्त्री की पक्षधरता का प्रश्न है। मुद्दों पर अपनी राय, अपने विचार को अभिव्यक्त करना, अपनी सदियों की खामोशी को तोड़कर अपनी बात रखना आधुनिक युग में स्त्रीजीवन एवं स्त्री लेखन की एक महत्वपूर्ण घटना है, जो स्त्री को वस्तु की श्रेणी से निकालकर 'व्यक्ति' की श्रेणी में रखती है। घरेलू स्त्री की पारंपरिक भूमिका से निकलकर 'लेखक' की श्रेणी में आना, स्त्री भूमिका का रूपान्तरण स्त्री को एक नयी पहचान, स्त्री अस्मिता की निर्मित की प्रक्रिया की बीजवपन घटना है तब जबकि पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री लेखन एक सहज स्थिति नहीं थी । परिवार भय या समाज–भय के कारण कोई महिला लेखन के क्षेत्र में खुलकर आगे नहीं आ रही थी, वैसी स्थिति में हिन्दी की पहली मौलिक कहानी एक स्त्री द्वारा लिखा जाना, एक चौकाने वाला तथ्य है। यह भी विलक्षण बात है कि एक बांग्लाभाषी महिला द्वारा हिन्दी में स्त्री–लेखन की

शुरुआत करना। पितृ सत्तात्मक समाज में महिलाओं की क्या स्थिति रही होगी कि एक महिला को अपनी कहानी छपवाने के लिए अपनी पहचान को छुपाने के लिए राजेन्द्रबाला घोष से बंग महिला (छद्मनाम) बनना पड़ा। कहानी का नाम था– 'दुलाईवाली' । 1907 में सरस्वती (भाग–8, अंक–5) में हिन्दी का प्रथम कहानी और हिन्दी लेखिका की भी प्रथम कहानी 'दुलाईवाली' छपी ।

स्त्रीविरोधी सामाजिक एवं साहित्यिक परिवेश के बंजर धरती पर कहानी की फसल उगाना स्त्री संघर्ष के विजय की कहानी है। हिन्दी कहानी का सफर शुरू करने वाली 'दुलाईवाली' के प्रकाशन का महत्व सिर्फ एक रचना तक सीमित नहीं है बल्कि यह एक बड़ी साहित्यिक और सामाजिक–सांस्कृतिक घटना है। एक स्त्री सारे जकड़नों और सामाजिक रूढ़ियों, स्त्री की नियत भूमिका को तोड़ने की घटना है, एक स्त्री के बोलने, लिखने, सोचने, समझने का बौद्धिक प्रमाण–पत्र देने की घटना है, जो उसे वस्तु से व्यक्ति बनाती है। 'दुलाईवाली' का प्रकाशन मील का पत्थर साबित हुई स्त्री लेखन के इतिहास का स्त्रियों में अपनी बौद्धिकता सिद्ध करने की होड़ लग रही थी, जिस बौद्धिकता के अभाव के धब्बों के आरोप के कारण जो समाज उसे अब तक पशु की श्रेणी में रखता था, मूर्ख समझता था, उसी वंचित स्त्री को आज अपनी योग्यता, अपनी बौद्धिकता सिद्ध करने, अपने विचार रखने का ऐतिहासिक अवसर लेखन के माध्यम से जब मिला तब स्त्रियों ने उस ऐतिहासिक मौके को लपक लिया। यह सिर्फ लेखन का मसला न था बल्कि पितृ समाज में मिले स्त्री के सामाजिक दोयम दर्जे को भी दुरुस्थ करने का अवसर था । स्त्री संबंधी पूर्वानुमानित पुरुष अवधारणा को भी ठिकाने लगाने का अवसर था कि बौद्धिकता और बौद्धिक कर्म सृजन – कर्म सिर्फ पुरुषों की चीज नहीं है, पुरुषों का क्षेत्र नहीं है बल्कि स्त्रियों की भी चीज है और स्त्रियों का भी क्षेत्र है। यही नहीं बल्कि स्त्रियां हर चीज पर अपनी राय भी रखती हैं, वे अधीन राय रखने में समर्थ एवं योग्य हैं। अपनी समर्थता एवं योग्यता का यह विश्वास स्त्रियों को उनके आत्म से जोड़ता है, स्त्री के आत्मविश्वास को बढ़ाता है, अपने अस्तित्व की गरिमा का बोध कराता है अब स्त्री भी देकार्त की तरह कह सकती थी कि 'मैं सोचती हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है।' स्त्री अस्मिता की पहली चिंगारी हिन्दी की पहली कहानी 'दुलाईवाली' से उठती है वह चिंगारी मशाल बनकर अन्य स्त्रियों को भी रास्ता दिखाती है।

1907 में 'दुलाईवाली' के प्रकाशन ने तो मानो परवर्ती महिलाओं के लिए जैसे एक द्वार ही खोल दिया था, सदियों से चुप्प और खामोश महिलाओं ने तो अपने ह्रदय कपाट ही खोल दिए । स्त्री की अभिव्यक्ति को जैसे एक साहित्यिक प्लेटफार्म ही मिल गया हो। फिर क्या था । देखते–ही–देखते महिला लेखकों की बाढ़ आ गयी। महिलाएं लेखन के मैदान में कुछ पड़ीं। दूसरे दशक तक साहित्यिक स्थिति यह हो गयी थी कि कुछ ही वर्षों में अनेक महिला कथाकार उस युग की बडी–बडी पत्रिकाओं में धड़ल्ले से छपने लगीं। हर पत्र–पत्रिकाओं में महिला कहानीकारों की कहानियाँ छपने लगी । यशोदा देवी उपादेवी मित्रा, शिवरानी दवे ी, प्रियंवदा देवी, कमला देवी चौधरी, मिसला मिश्रा, शारदा कुमारी, कुंती देवी, जानकी देवी, जमुना देवी, सुशीला देवी, रामप्यारी देवी बावली देवी, शुभद्रा देवी, गौरी दवे ी, देववंती देवी तिवारी, गिरजा देवी, गायत्री देवी, वनलता देवी, सरस्वती दवे ी, महामाया देवी, धनवंती देवी आदि अनेक नाम हैं जिन्होंने बंगमहिला को देखकर कलम पकड़ी थी और सामाजिक पारिवारिक मुद्दों पर अपनी राय रखनी शुरू कर दी थी। इन कहानियों के संदर्भ सामाजिक, पारिवारिक थे किन्तु वातावरण अकृत्रिम एवं आत्मीय था। उनके पास कहानी कहने का अपना ढंग था क्योंकि सामने न तो कहानी लेखन की कोई परम्परा थी और न ही कोई सामाजिक–सांस्कृतिक बुराइयों का आमना–सामना करने वाली इन स्त्री कथाकारों ने समाज के उस नब्ज पर अपनी अंगुली रखकर उस दर्द को, उस बीमारी को चिन्हित कर समाज को। स्त्री को उसका ईलाज करने के लिए जगाया। ईलाज का फार्मूला न बताकर उसका समाधान समाज पर ही छोड़ा। धीमी स्वर में ही उन लेखिकाओं ने बीमार समाज की सामाजिक बीमारियों का आइना समाज को दिखाया है, समस्या की पहचान की है, यह बात हो अपने–आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है। आरंभिक स्त्री कथालेखन का उद्देश्य न तो बाजार था और न ही पुरस्कार था, बल्कि स्त्रियों के बौद्धिक प्रमाण–पत्र का दरकार था. स्त्री संबंधी समाज धारणा का नकार था, जो स्त्रियों को चूल्हा, चौका, वर्तन, बच्चे, पति की दुनियां के कामों तक ही उसकी भूमिका का मानता था। स्त्रियों ने अपने लेखन से यह सिद्ध किया कि उनके पास घर–संसार है तो साथ–साथ रचना–संसार भी है। संस्कार से आगे विचार भी है, मौन से आगे अभिव्यक्ति भी है जो स्त्री के स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र अस्तित्व का प्रमाण भी है, एक हाथ में बेलन तो दूसरे हाथ में लेखन भी है। यह लेखन स्त्री की भूमिका स्त्री की छवि स्त्री के समाजिक दर्ज को लेकर कन्सर्न है, यह लेखन 'टिपिकल स्त्री' की छवि को लेकर चिंतित है और उस स्त्री की छवि को बदलना चाहती है, स्त्री की भूमिका, स्त्री की पहचान, स्त्री की अस्मिता को लेकर सजग है। इसलिए कुछ कहानियों में इन स्त्री कथाकारों ने सामाजिक स्थितिग्रस्तता को तोड़ा है, कहानी को पुरुष दृष्टि से न देखकर स्त्री दृष्टि से भी देखा है। कहानी का स्त्री पाठ भी तैयार कर स्त्री संवेदना से लिपटी बेजोड़ कहानियां भी इन्होंने लिखी है। कहानी की शिल्प संबंधी कुछ कमियां भी हैं, कहानी कला की प्रयोगधर्मिया का भी अभाव है, पुष्ट भाषा की कमी भी कहीं–कहीं दिखती है, इसके बावजूद भी आरंभिक दौर की कहानियों को देखकर इसे माफ किया जा सकता है। सबसे बड़ी महत्वपूर्ण बात है पितृसमाज में कैद स्त्री द्वारा यह आत्माभिव्यक्ति, जो परंपरागत स्त्री से आधुनिक स्त्री बनने की दिशा में बढ़ा हुआ कदम है। कहानियों में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करना, अपनी सदियों की चुप्पी को तोडना, समस्या की पहचान कराना, प्रश्न करना और साहित्य की मुख्यधारा से सीधे जुड़कर लेखन में पुरुष के एकाधिकार को चुनौती देना, अपने–आपमें ही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में एक बड़ी बात है। बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों में ही स्त्रियों की साहित्यिक सक्रियता और उपस्थिति बढ़–चढ़कर होने के बावजूद भी तत्कालीन पुरुष लेखकों, आलोचकों ने पुरुष कथाकारों के मुकाबले स्त्री कथाकारों को न तो साहित्यिक गंभीरता से लिया और न ही स्त्री–लेखन पर गंभीर बहस छेड़कर उसे साहित्यिक केन्द्र में स्थापित करने का ही प्रयास किया। तो इस उपेक्षा दृष्टि के पीछे ठोस कारण था लेखक और आलोचक होने से पहले उनका पुरुष होना। जो अभी भी स्त्री को बौद्धिकता से परे मानकर पुरुषों की श्रेष्ठता भाव को पूजता है। तभी तो जिन पत्र–पत्रिकाओं में जहां प्रेमचंद, प्रसाद, विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक', राजा राधिका रमण सिंह, रायकृष्ण दास जैसे प्रतिष्ठित कथाकारों की कहानियां छपती और जिस गंभीर चर्चा–परिचर्चा होती थी, उनका महिमामंडन किया जाता था, उन्हीं पत्र–पत्रिकाओं हंस, सुधा, माधुरी, सरस्वती, विशाल भारत, चांद में छपने वाली महिला कहानीकारों को 'नोटिस' तक नहीं किया जाता था और न ही गंभीर चर्चा छोड़कर उस पर बहस चलायी जाती थी। क्योंकि इन पत्र–पत्रिकाओं की कमान पुरुषों के हाथों में थी और पुरुष दृष्टि को ही मानक दृष्टि मानकर रचनाओं का मूल्यांकन किया जाता था। स्वयं कथा सम्राट प्रेमचंद जो हंस के संपादक थे, वे भी शामिल थे। उनके घर में खुद एक स्त्री कथाकार पत्नी शिवरानी देवी थी, किन्तु उन्हें भी प्रेमचंद की पत्नी के नाम से जाना जाता है, स्वतंत्र कथाकार

शिवरानी देवी के रूप में नहीं। तो फिर दोष किसका है उन महिला कथाकारों का अथवा पुरुष आलोचकों का, जो पितृसत्तात्मक मूल्यों के रक्षक एवं प्रतिनिधि भी थे। इसलिए तमाम मानवतावादी आग्रह के बावजूद भी वे लोग पहले पुरुष थे, बाद में ही साहित्यकार या आलोचक। रोजमर्रा की जिंदगी में आचरण करने वाला पुरुष साहित्य में अपना आचरण कैसे बदलता भला !

पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों के प्रति पुरुष की हेय दृष्टि, उपेक्षित दृष्टि का विस्तार साहित्य और आलोचना के क्षेत्र तक हो जाता है। आलोचक का पुरुष पूर्वाग्रह यहां भी नहीं बदलता है। बदलता भी कैसे सदियों के रूढ़ संस्कार उनके विचारों पर हावी जो था। स्त्री को महत्व जब समाज में नहीं मिला तो साहित्य एवं आलोचना में कैसे मिलता ! यहां भी तो पुरुष सत्ता के शिखर पर कुंडली मार कर बैठा हुआ था। स्त्रियों का लिखना पढ़ना समाज के लिए नई बात थी किन्तु पुराने पुरुष संस्कार के आगे नये विचार, नयी भूमिका कैसे टिकती! जबकि स्त्रियों ने उपहास सहकर समाज के ताने खाकर भी लेखन का काम न छोड़ा, उनके लेखन में थमाव, रूकाव और झुकाव न आया। उन्होंने अपमान का जवाब सृजन से दिया। खूब लिखा और खूबियों के साथ लिखना। फिर भी पुरुष आलोचकों की नजर उस पर नहीं गई हो, ऐसा हो नहीं सकता। फिर कमी कहाँ रह गई थी। बात नजर की न होकर नजरिये की है। बात पितृक दृष्टिकोण और पितृक संस्कारों की जंजीरों में कैद पुरुष (लेखक/आलोचक) की है। फिर भी इन स्त्री कथाकारों का इरादा फौलाद से भी मजबूत और संकल्प चट्टान से भी मजबूत था। उसके हौसलों की ही उड़ान थी कि तमाम पारिवारिक अड़चनों और साहित्यिक उपेक्षा के बावजूद प्रेमचंद के लेखन जीवन के आखिरी पड़ाव यानी 20वीं सदी के चौथे दशक के कुछ पूर्व तक महिला कथाकारों की एक बड़ी फौज तैयार हो गयी
थी जो सामाजिक और साहित्यिक मोर्चे पर जंग लड़ रही थीं। इतिहास की बाधा–रेस को पार करने वाली इन जुझारू महिला कथाकारों में से कुछ प्रमुख नाम, जिन्होंने सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, रजानीतिक मुद्दों पर बेबाकी से कलम चलाए और जिन्होंने अपमान का खून पीकर उसे स्याही के रंग से रंग दिया. वे थीं– हेमवती देवी, उषा देवी मित्रा, शिवरानी देवी, सत्यवती मलिक, कमला चौधरी, तेजरानी पाठक, सुमित्रा कुमारी सिंह, रामेश्वरी देवी चकोरी चन्द्रप्रभा द्विवेदी, चन्द्रवती ऋषभ जैन, चन्द्रकिरण सोनरेक्सा, लीला प्रकाश, विद्यावती वर्मा, मालती शर्मा, रमा देवी श्रीवास्तव, रूपकुमारी वाजपेयी, मंगला देवी बालूपुरी, महादेवी वर्मा, शैल कुमारी, मनोरमा सिंह, कांति देवी भटनागर का कथा–संसार इतना विराट है, विविधता से भरा है कि शायद ही किसी कला प्रेमी आलोचक की दृष्टि से वह ओझल हो पाए, किन्तु पुरुष वर्चस्ववादी दुनिया में स्त्रियों के लिए जगह नहीं है। वह (पुरुष) स्त्री को पारिवारिक संरचना, घर–संसार की दुनिया के बाहर के रचना–संसार में देखना पसंद नहीं करता। साहित्य की जमीन पर पुरुषों का अधिग्रहण है और इस कारण स्त्री कथाकारों की रचना पर भी ग्रहण लग जाता है। न तो उनको 'नोटिस' किया गया, न ही उनका सम्यक् मूल्यांकन तो क्या ठीक से पढ़ा तक नहीं गया और बड़े आराम से मसीहाई अंदाज में पुरुष आलोचकों ने उनके लेखकीय अवदान पर अपना फतवा जारी कर दिया। उन रचनाओं को दोयम दर्जे की रचनाए, औरतपन की रचनाएं, अन्या, आउटसाइडर कहकर बाहर ही रखा गया। पुरुषोचित विद्वेष एवं दुराग्रह के कारण ही उन रचनाओं को हिन्दी कथा–साहित्य की मुख्यधारा से बाहर रखा गया। वे रचनाएं साहित्यिक अस्पृश्यता एवं लिंग भेद की पुरुषोचित पूर्वाग्रह–दोष से स्त्री कथा–लेखन पर पुरुषों द्वारा लिखी गई भेंट चढ़ गयी। आचार्य रामचंद्रशुक्ल अपने इतिहास ग्रंथ में पुरुष–लेखन की एक परंपरा तो निर्धारित करते हैं किन्तु उन्हें स्त्री लेखन की कोई परंपरा नहीं दिखती है। उनकी दृष्टि में हिन्दी साहित्य का इतिहास का अर्थ है पुरुष साहित्य का इतिहास । जबकि सामने स्त्रियां कथा क्षेत्र में अपना सक्रिय योगदान दे रही थीं। किन्तु वे सभी शुक्लजी की पारखी नजर में श्नोटिसश तक नहीं हुई, तो इसलिए कि उनके इतिहासकार रूप पर पुरुष संस्कार, पुरुष दृष्टि हावी था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दूसरी परंपरा भी इस पुरुष संस्कार, पुरुष दृष्टि का अतिक्रमण न कर सकी। नामवर सिंह तो स्त्री–लेखन पर अपनी अनभिज्ञता कहकर अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। तो क्या यह सिर्फ अज्ञानता भर है। भला किसकी हिम्मत है कि इन बड़े–बड़े दिग्गज साहित्यकारों, इतिहासकारों का कोई असाहित्यिक कह दे । इन पुरुष साहित्यकारों के लिए, दिग्गज आलोचकों के लिए कथाकार का मतलब पुरुष कथाकार से है प्रेमचंद्र प्रसाद, अज्ञेय, जैनेन्द्र, यशपाल, रेणु से है। अगर कोई स्त्री इन पुरुष रचनाकारों को पढ़े, पुरुष– सच से, पुरुष दृष्टि से लिखे एंव प्रभावित प्रेमचंद, अज्ञेय, जैनेन्द्र, निराला को न पढ़े, तो तुरन्त ही स्त्री की साहित्यिक अभिरूचि पर प्रश्नचिन्ह लग जाएगा, फिर उसका साहित्यिक संसार में कोई ठौर नहीं स्त्री का यह अज्ञानता अक्षम्य है। किन्तु पुरुष आलोचक किसी विख्यात स्त्री–रचना को न भी तो चलता है, स्त्री पुरुष आलोचकों की अज्ञानता एवं साहित्यिक अभिरूचि के मानक का। वास्तव में यह विरोधाभास साहित्यिक अभिरूच का न होकर पितृसत्तात्मक व्यवस्था के स्त्री–पुरुष संबंधी दोहरे पैमाने, दोहरी नैतिकता, दोहरे जीवन मूल्य, समस्त दोहरेपन का विरोधाभास है, जो साहित्य के क्षेत्र में भी लागू है। वास्तव में स्त्रियों की दुनिया में पुरुषों को विशेष रूचि नहीं है। जो पितृसत्ता के सरहद से बाहर जाकर बनायी गयी हो।

स्त्री कथा–साहित्य स्त्री की बनती हुई अस्मिता का दस्तावेज है, जिसे अभी तक या तो 'नोटिस' नहीं किया गया या पुरुष दृष्टि से सतही तौर पर देखा गया या पुरुष उपेक्षा की भेंट चढ गई। आज आवश्यकता इस बात की है कि बंगमहिला से लेकर स्वतंत्रतापूर्व तक के समस्त स्त्री कथा–साहित्य का स्त्री दृष्टि से स्त्री पाठ तैयार कर उनका सम्यक् मूल्यांकन किया जाए और उसे साहित्य की मुख्यधारा मे स्थापित किया जाए। क्योंकि स्त्री कथा–साहित्य लिंग भेदवादी पुरुष आलोचना–दृष्टि की बलि चढ़ गयी। तभी उस दौर की कथाओं एंव कथाकारों की जब बात करते हैं तो प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल अश्क, विष्णु प्रभाकर, निराला, इलाचंद जोशी आदि की चर्चा पर जाकर रूक जाते हैं किन्तु इनके समकालीन और समानान्तर सक्रिय महिला–कथाकारों– हेमवती देवी, चन्द्र किरण, सोनरेक्सा, सत्यवती मलिक, हीरा देवी चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, शांति भटनागर, स्वर्णलता भूषण, लीलावती बंसल, चन्द्रप्रभा द्विवेदी, कमला देवी चौधरी आदि को बेहिचक साहित्यिक असंवेदनशीलता के साथ पुरुष आलोचक वर्ग उसे साहित्य के हाशिये पर डाले देते हैं। वे आलोचक शायद यह भूल जाते हैं कि तमाम पुरुष वर्चस्व के बावजूद महिलाओं ने कथा–लेखन के क्षेत्र में, स्त्री कथा–लेखन के क्षेत्र में अपनी एक जमीन स्वयं बनायी है, पुरुष की कृपा दृष्टि और भिक्षावृत्ति से नहीं। जिस ठोस जमीन पर आज की स्त्रियां
खड़ी हैं।

विलक्षण बात यह है कि बंगमहिला से लेकर स्वतंत्रतापूर्व तक के कथा–साहित्य पर पुरुष आलोचना दृष्टि की उदासी खामोशी, ठंढापन तो समझ आता है किन्तु आज की कथा लेखक स्त्रियां भी अपने अतीत से कितना परिचित हैं। स्त्री कथा–लेखन की परंपरा से कितना लगाव और जुड़ाव रखती हैं। यह भी विचारणीय प्रश्न है। अपनी स्त्री–लेखन परंपरा के प्रति इन स्त्रियों की उदासी एवं ठंढापन भी चिन्तनीय है। जो पुरुष दृष्टि को मानक दृष्टि मानने का ही परिणाम है। जबकि रातों–रात न तो स्त्री–विमर्श खड़ा होता है और न ही स्त्री चेतना की स्त्री अस्मिता की विस्फोटक निर्मिति ही होती है। स्त्रीत्वादी विमर्शों का उभार एक ऐतिहासिक प्रक्रिया एक सतत् प्रक्रिया का प्रतिफलन है। अतएव स्त्री अस्मिता के उभार को इतिहास की कोई ताकत नहीं रोक सकती है। इतिहास बाधित होता है, पराजित नहीं।

'बंगमहिला' की कहानी की निर्मिति से जिस स्त्री अस्मिता की निर्मिति की कहानी शुरू होती है, वह अनवरत चलती रहती है। ज्यों–ज्यों स्त्री की कथा–संसार में गहराई का आयाम जुड़ता गया, त्यों–त्यों स्त्री अस्मिता की ताप प्रखर से प्रखरतम होती गई है और आज करीब 100 वर्षों के बाद स्त्री कथा–लेखन और स्त्री विमर्श इस मजबूत स्थिति में है कि वह मुख्यधारा के पुरुष के साथ आंख में आँख मिलाकर बात करती है, वह किसी मामले में उससे कमतर नहीं है। यह स्त्री की संघर्ष यात्रा, कहानी– यात्रा के संघर्ष की जीत है। साहित्य के लोकतांत्रिकरण की जीत है। साहित्य के स्वराज की जीत है जहां अब स्त्री प्रश्नों को पूर्णतया अंगीकार करना होगा, जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगाते हुए स्त्री की मुक्ति, स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व, स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति की लोकतांत्रिक मांग करते हुए भाषा, प्रतीक प्रतिमान, दृष्टि के पुनर्गठन की मांग करता है। कथा–साहित्य का मूल्यांकन पुरुष–केन्द्रित रहा है, उसमें स्त्री कथा–लेखन और स्त्री अस्मिता को जानबूझकर बाहर रखा गया है। उसमें स्त्री को बाहर रखा गया है। सारी चर्चा पुरुष कथाकार प्रेमचंद, प्रसाद, अज्ञेय, जैनेन्द्र, निराला, यशपाल, इलाचंद जोशी, रेणु आदि के इर्द–गिर्द ही घूमती हैं, स्त्री कथाकार पुरुष आलोचकों की नजर से ओझल हो जाता है। जिससे रचनाकार और रचनागत दोनों ही स्तरों पर स्त्री अस्मिता की निर्मिति की पूरी पिक्चर नहीं दिखती है। पुरुष आलोचना का यह 'डर्टी पिक्चर' है, जो आत्मकेन्द्रित और पुरुष–संसार तक सीमित है। अतएव बीसवीं सदी के तमाम कथासाहित्य विशेषकर स्त्री कथाकारों के कथा साहित्य को एक बार पुनः खंगालने की आवश्यकता है ताकि विषम लेखकीय परिस्थितियों में भी उनके संघर्षपूर्ण कथा–लेखन का समुचित मूल्यांकन कर उनके योगदान को चिन्हित कर सकें, उस साहित्य को साहित्य की मुख्यधारा में प्रतिष्ठित कर सके, और आज के स्त्री कथा लेखन के साथ उसका जीवन्त संवाद–संबंध स्थापित कर सके । ताकि स्त्री कथा लेखन की परंपरा के विकास, विकास के विभिन्न पड़ाव, विकास के मुद्दों, संघर्षो अस्मिताओं को चिन्हित कर साहित्य को 'इनक्लूसिव'

(समावेशी) तथा लोकतांत्रिक स्वरूप निर्मित कर सके । ताकि एक समग्र साहित्यिक दुनिया की निर्मिति कर सके. जिसे अब तक स्त्री को बाहर रखा गया था। अब तक साहित्य में जो अंतराल, जो फांक है, जो अन्तर्विरोध है उसे पाटा जा सके। उसे समरस किया जा सके। स्त्री के बहुमुखी संघर्ष से निर्मित स्त्री अस्मिता निखरकर अधिक रचनात्मक ताप के साथ उभर सके जिससे साहित्यिक बहस के केन्द्रों का पुर्नगठन होगा। साहित्य के आसन पर पुरुष कथाकार के समानान्तर स्त्री कथाकार की मजबूत उपस्थिति दिखेगी। यह संभाव्य संभावना साहित्य दृश्य के साथ–साथ साहित्यिक दृष्ट साहित्यिक पाठ में भी बदलाव लायेगा। यही कथा साहित्य में स्त्री अस्मिता का सही 'फीडबैक' देगा। उसी साहित्यिक जमीन पर खड़े होकर के स्त्री अस्मिता के नये आयाम की खोज की यात्रा अनवरत आगे बढ़ेगी.
ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

संदर्भ ग्रंथ–सूची

- बीसवीं सदी की महिला कथाकारों की कहानियां, सं. सुरेन्द्र तिवारी, नमन प्रकाशन, 2010 संस्करण ।
- केन्द्र और परिधि–अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण, 1986
- आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध प्रो. नित्यानंद तिवारी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 1982
- गगन गिल, देह की मुंडेर पर
- पुरुषोत्तम अग्रवाल, संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1995, संस्करण ।
- हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2058
- स्त्री–पुरुष कुछ पुर्नविचार–राजकिशोर वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2000
- हिन्दू स्त्री का जीवन– पं. रमाबाई (अनुवादकः शंभु जोशी) संवाद प्रकाशन, मुंबई– मेरठ, प्रथम संस्करण 2006
- कविता स्वतंत्रता और स्त्रीपूर्वग्रह. सुचेता मिश्रा।
- स्त्री संघर्ष का इतिहास–राधा कुमार, वाणी प्रकाशन तृतीय संस्करण 2009
- महिला और मानव अधिकार, एम.एम. अंसारी
- जयद्रथ वध, मैथिलीशरण गुप्त ।
- स्त्री–पुरुष कुछ पुर्नविचार राजकिशोर, वाणी प्रकाशनं संस्करण 2000
- स्त्रीत्व का मानचित्र–अनामिका, सारांश प्रकाशन, संस्करण 1999
- कला का जोखिम, निर्मल वर्मा, राजकमल, दिल्ली, संस्करण 1978